ISSN 2581-9917

अन्धविश्वास और भारत

विभव त्रिपाठी*

जब कोई कहता है 'अंधविश्वास' तो बरबस ही हमारी बुद्धि यह बिंब बनाती है कि कुछ अतार्किक, असंगत, अव्यावहारिक और चमत्कारी घटना या स्थिति। सवाल उठता है कि क्या यही अंधविश्वास है? यदि है तो यह हमारे समाज में कैसे विद्यमान है? यदि बात इससे भिन्न है तो हम उस दूसरे पहलू को कैसे देख सकते हैं? इन्हीं सवालों के इर्द-गिर्द एक पड़ताल करते हैं। किसी भी भाषा में कोई शब्द केवल अपने अर्थ से नहीं जाना जाता बल्कि सभी शब्दों का अपना एक इतिहास होता है। तब यह संभव है कि अंधविश्वास शब्द का भी एक इतिहास होगा? भारतीय संदर्भ में इसकी ऐतिहासिकता तलाशना आवश्यक है।

'अंधविश्वास' यह शब्द एक गढ़ा हुआ शब्द है। भारतीय विचार परंपरा में इसका प्रयोग कहीं नहीं मिलता। हिंदू धर्म कोश में भी इस शब्द की कोई चर्चा प्राप्त नहीं होती। फिर सवाल उठता है कि यह शब्द आया कहाँ से? असल में भारतीय विचारपद्धति तीन आयामों में विचरण करती है। एक है विश्वास, दूसरा है संदेह (तर्क) और तीसरा है अविश्वास। अंधविश्वास जैसी कोई स्थापना ही नहीं है। यह शब्द अंग्रेजी के सूपस्टिशन (**superstition**) के लिए गढ़ा गया शब्द है। भारतीय या तो सहज ही विश्वास करते हैं (और इसे कोई बुरा भी नहीं समझता) या बिल्कुल ही नकार देते हैं, अविश्वास करते हैं जैसे, चार्वाक और बौद्ध दर्शन में देखा जाता है। कुछ तीसरे भी हैं जो तर्क या प्रमाण के आधार पर स्वीकारते या नकारते हैं। तीसरे प्रकार के दर्शन में सांख्य और जैन मत हैं। अपने को वैज्ञानिक या तार्किक समझने वाले यूरोप ने जब अपनी अतार्किक, घृणित परंपराओं पर पर्दा डालना चाहा तब उन्होंने अपने औपनिवेशिक समाज की क्षेत्रीय कुप्रथा को सार्वदेशिक बनाकर प्रस्तुत किया। जिसका परिणाम यह हुआ की गुलाम देशों के लोग अपने भीतर राष्ट्रीय गर्व का भाव भर ही नहीं सके। कितने समाज सुधारक तो इस चाल से इतने कुंठित हुए कि उन्हें भारत में अपनी अन्त्येष्टि भी अनावश्यक लगी। आज भी हम भारतीय अपनी परंपरा और रूढ़ी में बिना अंतर किए ही अपनी संस्कृति पर शर्मिंदा होते रहते हैं। हम भूल जाते हैं कि कोई भी परंपरा जबतक अपनी प्रासंगिकता नहीं खोती वह रूढ़ी नहीं कहलाती। रूढ़ियां समाज को अंधकार की ओर ले जाती हैं परंपराएं नहीं। परंपराएं तो समाज को जोड़ती हैं, प्रकाशित करती हैं, अपने आलोक से समाज को दिशा दिखलाती हैं। जैसे हमारे पर्व और त्यौहार केवल काल्पनिक उत्सव मात्र नहीं हैं बल्कि उनका एक सामाजिक महत्व है। वह प्रतीकात्मक रूप से हमारे भीतर सद्भाव का संचार करते हैं, निराशा से बाहर निकालकर हमें उत्सवधर्मी बनाते हैं। यह जरूर है कि इन उत्सवों या परंपराओं में कुछ ऐसा जुड़ जाता है जो इसे विद्रूप करता है। यह विद्रूपता एक परजीवी की तरह नाश करती है। उस परजीवी विद्रूपता को ही रूढ़ी कहा जा सकता है।

* शोधार्थी,
हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

अंधविश्वास एक समस्या है। यह तो सभी जानते हैं लेकिन यह समस्या कबसे है? जब हम जान सकेंगे तभी इसका निदान भी संभव होगा। यदि हम वैश्विक परिप्रेक्ष्य में बात करें तो पश्चिम में तर्क, विचार, दर्शन और विज्ञान बहुत बाद में विकसित हुआ है। आज हम जिस व्यवस्था में ज्ञानार्जन कर रहे हैं वह भले ही पश्चिम की वैज्ञानिकता पर अपने सांस्कृतिक मूल्यो, प्रतीकों को परख रही है किंतु यह एक षडचंत्र से अधिक कुछ भी नहीं। पश्चिम की रौशनी उधार लेकर हमारे कुछ उधारी विद्वान निरन्तर यह कहते हैं कि हम कितने संकीर्ण, अंधविश्वासी, अतार्किक तथा अवैज्ञानिक हैं। पश्चिम कितना प्रगतिशील है, वैज्ञानिक है। यह केवल उपनिवेशी कुंठा मात्र नहीं है बल्कि एक सोची समझी रणनीति का हिस्सा है। वह रणनीति जो देह की जगह दिमाग को गुलाम बनाती है। इन बातों से यह कदापि आशय नहीं है कि अंधविश्वास कोई अमूर्त प्रत्यय है। अंधविश्वास है, लेकिन जिस व्यापक अर्थ गंभीरता के रूप में इसे ग्रहण किया जाता है भारतीय संदर्भ में वह ठीक नहीं है। हमें यह समझने की आवश्यकता है कि जिस किसी भी घटना, कार्य या स्थिति को हम अंधविश्वास कह रहे हैं उसकी शुरुआत किन कारणों से हुई होगी। पश्चिम की अनेक परंपराएं अतार्किक तथा अमानवीय रही हैं। चमत्कार को लेकर भी उनमें एक अलग ही सनक रही है। डायन, चुड़ैल, काला जादू आदि भ्रामक स्थापनाओं के आधार पर कितने ही निरपराधों को पीड़ादायक मृत्यु प्राप्त हुई। कितनी ही औरतों को डायन बताकर जिंदा जला दिया गया। आज भी पश्चिमी पंथ के अनुयायी 'हाले लुइया' कहकर ऐसे उपक्रम करते देखे जा सकते हैं। चमत्कार के स्तर पर उनका परमेश्वर पुत्र मृत्यु के बाद जीवित हो जाता है परंतु भारत में ऐसा नहीं होता। यहाँ तो वज्रयानियों के ईश्वर बुद्ध भी पेचिश रोग के कारण शरीर त्याग देते हैं। बुद्ध भारतीय परंपरा में राम के समान ही आदरणीय तथा अनुकरणीय हैं। किंतु ईश्वर होने के बाद भी कोई चमत्कार नहीं करते। चमत्कार को लेकर भारतीय दृष्टि थोड़ी भिन्न है। हम चमत्कार करने वाले को ईश्वर नहीं मानते बल्कि उसके आचरण की अनुकरणीयता को ध्यान में रखकर उसका सम्मान करते हैं। इंगरशोल महोदय जब चमत्कार को अंधविश्वास कहते हैं तो यह उनकी सीमा है, क्योंकि भारतीय चिंतन तो प्रकृति को उसके परिवर्तनों को चमत्कार मानता है। प्रकृति के चमत्कारों पर रीझना, खीझना, उत्साहित होना और सबसे बढ़कर प्रकृति के प्रति आभारी होना हमारी प्रकृति सापेक्षता है, अंधविश्वास नहीं। जब सवाल होता है कि पश्चिम में अंधविश्वास को लेकर सजगता क्यों है? भारत में आज भी अंधविश्वास पर सार्थक पहल क्यों नहीं होती? इसका जवाब तलाशने की जरूरत है। भारत अपने प्राचीनकाल से ही आध्यात्मिक रहा है। आध्यात्मिकता का अर्थ अपने भीतर उतरना है या यह कहें की अपने मूल की पहचान करना है। वर्तमान में आध्यात्मिकता को धार्मिकता मानकर समझा जा रहा है। मूलतः आध्यात्मिकता में धर्म तो है किंतु धर्म ही आध्यात्मिकता नहीं है। जब इस अंतर को हम समझ लेंगे तब अंधविश्वास को समझना हमारे लिए आसान होगा। पश्चिम में 'बनाम' कल्चर है : शास्त्र बनाम लोक, रिलीजन बनाम भौतिकता, ज्ञान बनाम जड़ता इत्यादि। भारत में संवाद परंपरा रही है। यह दीगर बात है कि हम भारतीय अब पश्चिम की रौशनी में अपने से भिन्न को अपने से कमतर तथा अपना विरोधी मान लेते हैं। इसे उदाहरण से समझकर देखिए, जो घटनाएं या कार्य हमारी समझ को संतुष्ट नहीं करते हम उन्हें मूर्खता या अंधविश्वास की कोटि में डाल देते हैं। यह देखने समझने का प्रयास ही नहीं करते की अमुक घटना या कार्य के पीछे क्या मान्यता है और क्यों है? क्या इसका समाज पर कोई दुष्प्रभाव है या नहीं है? यदि हम अतार्किक को तत्काल ही, बिना किसी विमर्श के ही अंधविश्वास मानकर खारिज करते हैं तो बरबस ही हम स्वयं को भी अंधविश्वासी बना रहे होते हैं। यदि कोई बिना प्रमाण के, बिना तर्क के कोई कार्य कर रहा है और हम बिना विचारे ही उसके कर्म को अंधविश्वास घोषित कर रहे हैं तो हम भी प्रतिगामी अंधविश्वास के शिकार हैं।

पश्चिम की भौतिक जगत् के बाहरी घटकों का स्थूल विश्लेषण करती है। उनके लिए पूनम के चांद और अमावस के चांद में केवल तिथि का अंतर है। भारत की आध्यात्मिक चेतना प्रकृति की किसी भी घटना का जीवन जगत् पर क्या प्रभाव होगा इसका विश्लेषण करती है। यदि हम भौतिकतावादी दृष्टिकोण को वैज्ञानिक मानकर किसी भारतीय को किसी विशेष दिन विशेष क्रिया करते देखकर उसका उपहास करते हैं तो हमें देखना होगा की समुद्र में ज्वार भाटा पूर्णिमा, अमावस्या को क्यों उठता है? असल में पश्चिम की यह समस्या है कि वह जिन विषयों की व्याख्या नहीं कर पाता, जहाँ तक उसकी समझ नहीं पहुंच पाती उसे वह

अंधविश्वास मानकर अपना पल्ला झाड़ लेता है। हमें यह समझने की आवश्यकता है कि भारत में ऐसा नहीं रहा। हमारी परंपरा संवाद की परंपरा रही है। हम अपने प्रतिकूल को निम्न या मूर्ख नहीं मानते बल्कि उसे समझने का प्रयास करते हैं। असहमत होने के बाद भी एक दूसरे का सम्मान करते हैं। तथाकथित पाश्चात्य विद्वानों के प्रभाव में हम अपनी गौरवशाली परंपरा से कटे हुए उन्हीं विद्वानों की तरह आंख मूंदकर दूसरों को कमतर या अंधविश्वासी कहने लगे हैं। वह पश्चिम जिसने तंत्र, यंत्र का नाम भारत से सुना, जिन्हें अखिल जगत् की समझ अबतक नहीं हुई वह अपने औपनिवेशिक गुलामों की विद्वता या समझ को अपने से बेहतर कैसे मान लेता? यह पश्चिम के प्रति उलाहना नहीं है बल्कि विषय सापेक्ष एक सामान्य तथ्य मात्र है। भौतिकतावादी समाज से तुलना का उद्देश्य केवल इसलिए प्रस्तुत किया गया ताकि भारतीय संदर्भ में अंधविश्वास को समझा जा सके। प्राच्य विद्वानों के लिए सभी अनिर्वचनीय विषय या कार्य अंधविश्वास है। भारतीय मेधा उस कार्य को जो परंपरा से होता आया है केवल इसलिए ही हो रहा है, कोई तर्क या प्रमाणिक कारण नहीं है वह अंधानुकरण या अंधविश्वास कहलाता है'। जब कोई परंपरा अपनी प्रासंगिकता खोकर भी यथावत बनी रहती है तो वह रूढ़ी हो जाती है। रूढ़ी को ऐसे समझें की कोई कहता है कि मेरे दादा फला दिन को बड़ा सा पग्गड़ बांधते थे, मैं भी बांधूंगा। वह क्यों बांधते थे और उसका जीवन जगत् पर क्या प्रभाव था? तो पता नहीं। यह रूढ़ी या अंधानुकरण है। अंधानुकरण चेतना के अभाव में होता है। अंधविश्वास इससे थोड़ा भिन्न है। यदि हमारे पास 'क्यों बांधते थे' प्रकार के प्रश्न का एक अतार्किक या बहलाने वाला जवाब है जिसे हम सत्य मानकर विश्वास करते हैं, जैसे जब दादा पग्गड़ बांधते थे तो बारिश होती थी। यह हमारा अंधविश्वास है। भला बारिश का किसी की पगड़ी या धोती से क्या संबंध? भारतीय संदर्भ में एक और शब्द है जिसे समझने की आवश्यकता है। जिसे हम अंधविश्वास ही समझते हैं किंतु वह कहीं अधिक खतरनाक है। वह शब्द है अंधश्रद्धा। अंधश्रद्धा का बाजार आजकल खूब गर्म है। लोग बाबाओं, मठाधीशों को लेकर हद दर्जे तक सम्मोहित हैं। प्रश्न उठता है कि अंधश्रद्धा किस रूप में अंधविश्वास से भिन्न है? असल में अंधश्रद्धा की फसल अंधविश्वास से ही उपजती है। यह अंधविश्वास का उत्कर्ष या अगला पड़ाव है। जब कोई व्यक्ति अपने वाक् कौशल, चमत्कार, जादू इत्यादि से हमारे मानस में कुतर्क के जहर का विश्वास भर देता है तो हम उसके मानसिक गुलाम होकर अपनी समझ खो देते हैं। यह भयावह स्थिति अंधश्रद्धा कहलाती है। इस स्थिति में श्रद्धालु को अपने श्रद्धेय में कोई कमी दिखाई ही नहीं देती। उनका अपराध भी चमत्कार लगता है, उनका पाप भी पुण्य हो जाता है। कितने ही बापू, बाबा आदि इसके उदाहरण हैं। यदि हम पश्चिम के उधारी टॉर्च की रौशनी इन श्रद्धालुओं पर डालेंगे तो हमें केवल घृणा ही मिलेगी। इनकी मुक्ति भारतीय संवाद शैली और प्रेम से ही संभव है। अंधविश्वास कोई अमूर्त प्रत्यय नहीं है। इससे समाज की मुक्ति भी असंभव नहीं है। यह मुक्ति शिक्षा और सामाजिक चेतना से ही संभव होगी। और यह चेतना पश्चिम की तिरस्कारी वृत्ति से नहीं बल्कि भारतीय दर्शन और साहित्य की साधना से आयेगी।

संदर्भ और सहायक ग्रंथ

1. अशोक भाटिया, अंधविश्वास : रोग और इलाज , साहित्य उपक्रम प्रकाशन, फरीदाबाद, हरियाणा, संस्करण 2023
2. राजबली पांडेय, हिंदू धर्मकोश, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, संस्करण 2021
3. राबर्ट ग्रीन इंगरशोल, अंधविश्वास, अनुवादक सोम प्रकाश चसवाल, साहित्य उपक्रम प्रकाशन, फरीदाबाद हरियाणा, संस्करण 2021

****